



Date:19-08-21

The police we need

India requires a police force that is responsive and respected and not one that is feared, as is the case today

R.K.Raghavan & D. Sivanandhan, [R.K. Raghavan is a former CBI Director who is now Professor of Criminal Justice at the Jindal Global University, Sonipat, and D. Sivanandhan is a former Commissioner of Police, Mumbai, and a former DGP, Maharashtra]

Ranjeeta Sharma, an Indian Police Service (IPS) probationer from Haryana, bagged the honour recently of commanding the passing-out parade at the National Police Academy (NPA). She won two awards: the Best All-round IPS Probationer and the Sword of Honour for the Best Outdoor Probationer. Interestingly, the honour of being the Best Probationer went to a woman officer, Kiran Shruthi, last year too.

The ideal police officer

The choice of the probationer commanding the passing-out parade is reasonably objective. It takes into account both the outdoor performance and classroom performance of a trainee. The probationer cannot be a mere bookworm or a brawny athlete excelling in activities such as ceremonial parade or horse riding; he or she is expected to be an all-rounder. The Best Probationer award recognises good conduct, empathy and a quick reflex. These are the ideal qualities of the police who are required to intervene in dangerous situations and also go to the rescue of the poorest when they are harassed by anti-social elements.

The most positive feature today is that many IPS officers are technology savvy. This augurs well for the future of law enforcement in India. Even the lower rungs of the police, who do not belong to the elitist IPS, are avid in the use of technology, especially for regulating public assemblies and solving crimes.

India stands out for entrusting independent responsibility to IPS officers even in the early years of their induction. This is why an IPS assignment is not only prestigious but is laden with unparalleled trust in an inexperienced youth just out of university. Only a few come in with previous work experience.

However, it is distressing to note the declining levels of integrity among senior IPS officers who are expected to be role models for their junior colleagues. Recently, a case of alleged extortion was registered against a former Mumbai Police Commissioner. A senior IPS officer in Tamil Nadu was recently served a charge sheet in court in connection with a case pertaining to the sexual harassment of a woman officer. Nothing can be more disgraceful for a premier police force.

Glittering passing-out parades therefore seem mere window dressing. The NPA has the greatest role in building character. This is where its success is only modest.

What does an average citizen want from the police? Citizens desire a friendly police force which treats the rich and poor alike. They would also like to see less rapacious police stations where they receive service to which they are entitled, without having to pay any bribe. Except in a few places in the country, most citizens don't get all this.

We are still a country where crime against women is high. Arguing that this is the case in many other countries is no consolation. While many quote data, we would like not to do that since the available data have many issues: there is under-reporting of cases, and the police often refuse to register complaints made. We would rather go by perceptions about the police capacity and interest. The popular belief is that India is still not safe for women. The gang rape and murder in 2012 of a young woman in Delhi left an indelible scar not merely on the face of the Delhi Police but on the whole Indian police force. This is just one example — there are many more.

Occupying public positions

In this context, it is important to mention the management of police personnel. In an ideal world, brilliant and straightforward officials would be chosen to occupy public positions calling for objectivity and skill. Unfortunately, this is not the case with IPS appointments. Many officers are given plum posts based on their links and loyalty to the ruling party. A silver lining, however, is the Supreme Court mandate laying down the process for selection of Director General of Police. The State government now has to make the appointment from a panel of three names approved by the Union Public Service Commission. This will ensure that no outrageous appointments are made.

Ultimately it is the honest and hard-working officer at the top who will make the difference between good and tendentious policing. India needs a police force that is responsive and respected and not one that is feared, as is the case now. But for that, we need to know why some young men and women officers with a distinguished educational record and who often come from middle and lower sections of the society deviate from the path of virtue after solid training at the NPA. Is this because of faulty selection or poor supervision? Or is it due to the fact that new arrivals no longer have role models like the ones we had in the past?



Date: 19-08-21

विभाजन विभीषिका स्मृति दिवस सकारात्मक चेतना जगाए

संपादकीय

हर साल 14 अगस्त को 'विभाजन विभीषिका स्मृति दिवस' मनाने की प्रधानमंत्री की घोषणा पर पाकिस्तान का ऐतराज पूरी तरह गलत है। शायद उसे भी यह दिन अपने आजादी दिवस के साथ ही विभीषिका की याद में मानना चाहिए ताकि इतिहास की उस घटना से सीखे। करीब 20 लाख लोग मारे गए, दो करोड़ विस्थापित हुए और यह सब कुछ इतिहास की अन्य समतुल्य घटनाओं से अलग बेहद कम समय में हुआ। लिहाजा इससे भावी पीढ़ियों को सीखना होगा। सामाजिक चेतना के लिए ऐतिहासिक घटनाओं को याद करना पूरी एक सर्वमान्य प्रक्रिया है। और इन्हें याद किया भी जाना चाहिए। लेकिन सामाजिक चेतना दो तरह की होती हैं- सकारात्मक और नकारात्मक। विभाजन की विभीषिका हर वर्ष याद करना और वैसी स्थिति फिर न आने देने की चेतना पैदा करना इस दिवस का सकारात्मक पहलू होगा। लेकिन अगर इसकी घटनाओं में एक धर्म-विशेष पर हुए अत्याचारों को दिखाकर समाज के एक वर्ण में दूसरे वर्ग के खिलाफ गुस्सा पैदा करना है, तो वह अगली विभीषिका की जमीन तैयार करेगा। ये और बुरी परिस्थिति होगी। अनेकता में एकता कहने-सुनने के लिए अच्छा है लेकिन हमें ये नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय समाज में हजारों पहचान समूह हैं जो कहीं न कहीं एक-दूसरे से दुराव रखते हैं। जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद दुनिया में सबसे ज्यादा हमारे यहां ही है। एक बार फिर जातिगत गणना की मांग राजनीतिक मुद्दा बन चुकी है। हमें ये भी देखना होगा कि लाभ के लिए राजनीति सामाजिक तनाव पैदा न कर दे। इतिहास सबक लेने के लिए है न कि प्रतिकार के लिए।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:19-08-21

कृषि बीमा की खामियां

संपादकीय

सरकार की प्रमुख फसल बीमा योजना- प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना (पीएमएफबीवाई) की शुरुआत पांच वर्ष पहले इसलिए की गई थी ताकि किसानों को फसल उत्पादन से जुड़े जोखिमों से बचाया जा सके। इस योजना में गत वर्ष व्यापक बदलाव किए जाने के बावजूद इसकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। योजना ज्यादातर अंशधारकों का विश्वास जीतने में नाकाम रही है। इनमें किसान, बीमा कंपनियां और राज्य सरकारें सभी शामिल हैं। तथ्य यह है कि अनेक राज्य इससे बाहर निकल चुके हैं और कुछ अन्य राज्यों के बारे में सूचना है कि वे भी ऐसा विचार कर रहे हैं। कृषि प्रधान राज्य पंजाब इस योजना में शामिल ही नहीं हुआ जबकि बिहार और पश्चिम बंगाल ने प्राकृतिक आपदाओं तथा अन्य वजहों से किसानों को होने वाले नुकसान की भरपाई का अपना तरीका निकाल लिया। कुछ बीमा कंपनियों ने भी कृषि बीमा करना बंद कर दिया है क्योंकि यह उन्हें मुनाफे का सौदा नहीं लगा। भले ही उन्हें घाटा नहीं हुआ लेकिन भारी सब्सिडी के बावजूद उन्हें इससे कोई फायदा भी नहीं हुआ।

निस्संदेह पीएमएफबीवाई की कई कमियों को गत वर्ष दूर किया गया। इसमें कुछ बेहतर बातें शामिल की गईं। मिसाल के तौर पर बैंक ऋण लेने वाले किसानों के लिए पहले जहां यह अनिवार्य थी, वहीं अब इसे स्वैच्छिक कर दिया गया है। पहले किसानों को जो भी थोड़ी बहुत बीमा राशि मिलती थी, बैंक अपने बकाया को उसमें समायोजित कर देते थे। इस

तरह किसानों के बजाय बैंकों के जोखिम का बचाव होता था। इसके साथ ही केंद्र सरकार ने प्रीमियम सब्सिडी में अपनी हिस्सेदारी को गैर सिंचित क्षेत्र में 30 फीसदी और सिंचित क्षेत्र में 25 फीसदी पर सीमित कर दिया था और यह बात राज्यों को नागवार गुजरी। हालांकि मौजूदा स्वरूप में राज्य और केंद्र सरकारें प्रीमियम सब्सिडी को 50:50 के आधार पर साझा करते हैं लेकिन अधिकांश राज्यों को लगता है कि उनका हिस्सा बहुत अधिक है। वे अक्सर समय पर अपना हिस्सा चुकाने में देर करते हैं। परिणामस्वरूप बीमा एजेंसियों द्वारा किसानों के दावे निपटाने में भी देरी होती है। फसल बीमा में किसानों की रुचि न होने की प्राथमिक वजह यह है कि उन्हें क्षतिपूर्ति बहुत देर से और बहुत कम मिलती है। हालांकि पीएमएफबीवाई में संशोधन के बाद यह व्यवस्था की गई है कि प्रीमियम सब्सिडी में अपने हिस्से का भुगतान देर से करने वाले राज्यों पर जुर्माना लगाया जाए लेकिन इस प्रावधान का इस्तेमाल बमुश्किल ही होता है।

देरी में योगदान करने वाला एक और कारण है फसल के नुकसान के आंकड़े जुटाने में लगने वाला समय। हालांकि संशोधित पीएमएफबीवाई में व्यवस्था है कि बीमा कंपनियां संग्रहित प्रीमियम का कम से कम 0.5 फीसदी हिस्सा डेटा संग्रहण के लिए आधुनिक सूचना और संचार उपायों का प्रचार प्रसार करने तथा किसानों के बीच बीमा के लाभ को लेकर जागरूकता बढ़ाने में व्यय करेंगी। परंतु अधिकांश कंपनियां इन मानकों का पालन नहीं करतीं। कागज पर देखें तो पीएमएफबीवाई का संशोधित स्वरूप, कृषि बीमा के अब तक सामने आए मॉडलों में सबसे बेहतर नजर आता है। सन 1972 में कृषि बीमा की शुरुआत के बाद से तमाम तरीके अपनाए गए लेकिन कामयाबी नहीं मिली। इसमें बुआई के पहले से लेकर फसल के खेत में रहने तक के तमाम संभावित जोखिम शामिल हैं। इसमें रबी फसल के लिए कुल बीमा राशि का 1.5 फीसदी, खरीद के लिए 2 फीसदी और नकदी फसल के लिए 5 फीसदी तक का सांकेतिक प्रीमियम ही रखा गया है। जरूरत यह है कि सबसे पहले तो बची हुई खामियों को दूर किया जाए जो अंधारकों को इसे अपनाने से रोक रही हैं और इसके बाद इसे बढ़ावा देने के लिए एक गहन अभियान चलाया जाए। यह किसानों की आय की सुरक्षा सुनिश्चित करने की दिशा में भी एक कदम होगा।

Date:19-08-21

उदारवाद के अपनी चमक खोने की वजह

आर जगन्नाथन, (लेखक स्वराज्य पत्रिका के संपादकीय निदेशक हैं)

उदारवादी दृष्टि के आसन्न अवसान की व्याख्या काफी हद तक स्वीकार्य दो आदर्शों की सरलता से बेहतर कोई भी चीज नहीं कर सकती है। पहला आदर्श एडम स्मिथ का वह वक्तव्य है जिसके मुताबिक, 'यह किसी कसाई, शराब बनाने वाले या किसी बेकरी वाले की सदाशयता नहीं है बल्कि भोजन प्रक्रिया का अंग होना उनके ही हित में है। हम खुद को मानवता से नहीं बल्कि उनके आत्म-प्रेम से निर्धारित करते हैं और हम उनसे कभी भी अपनी जरूरतों के बारे में नहीं बल्कि उनके फायदे के बारे में बात करते हैं।'

दूसरा आदर्श फ्रांसीसी क्रांति का इससे भी अधिक मासूम नारा है: स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व। हमारे अपने संविधान की प्रस्तावना में भी इन शब्दों को मुख्य रूप से स्थान मिला हुआ है और अक्सर उदारवादी असहमति जताने वालों के प्रति नफरत फैलाते समय भी इन शब्दों का जिक्र करते हैं।

अब एडम स्मिथ के वक्तव्य में शामिल कसाई, शराब-निर्माता एवं बेकरी की जगह गूगल, ऐपल एवं एमेजॉन को रखकर देखिए कि क्या यह वाक्य आज की अन्यायपूर्ण दुनिया में कोई मायने रखता है? निश्चित रूप से स्व-हित वृद्धि का एक महत्वपूर्ण चालक है लेकिन व्यापक समुदाय के हितों की स्वीकृति से लागू नियंत्रणों के बगैर आर्थिक स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाएगी।

जहां तक फ्रांसीसी क्रांति के सामाजिक-राजनीतिक आदर्शों का सवाल है तो बहुत कम समाज ही इन मापदंडों पर खरा उतरने का दावा कर सकते हैं। ये आदर्श इस धारणा पर बने हुए थे कि अतीत की सारी संस्थाएं- परिवार, कबीला, धर्म, जाति और राष्ट्रवादी राज्य एक व्यक्ति का दमन करती थीं। इसलिए व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं को अधिकतम करने और पुरानी संस्थाओं को नष्ट करने या काबू में करने से मानव-जाति अपनी पूरी क्षमता तक विकास के लिए स्वतंत्र हो पाएगी।

लेकिन इन आदर्शों को सिर्फ छोटे या असामान्य रूप से एकल-सांस्कृतिक समाजों में ही हकीकत में बदला जा सका है। नॉर्डिक समाज, जर्मनी, एवं जापान के अलावा इजरायल एवं दक्षिण कोरिया जैसे कुछ लोकतांत्रिक एशियाई देशों में ही ऐसा हो पाया है। लेकिन इन देशों में भी प्रवासियों की संख्या बढ़ने के साथ आगे चलकर बंद-गली जैसे हालात ही बन जाएंगे। उनकी अनवरत सफलता उनके एकल-सांस्कृतिक समाज बने रहने पर ही निर्भर करती है।

उदारवाद अपनी चमक खोता जा रहा है और इसकी वजह यह है कि इसने मानव स्वभाव के बुनियादी तौर पर दोषपूर्ण स्वभाव को अच्छे एवं बुरे दोनों ही मामलों में गलत मान लिया है। उदारवाद की दुनियावी नजर में अतीत के सामुदायिक संस्थान वाजिब वजहों से दमनकारी थे और उनके उन्मूलन या निष्प्रभावी कर दिए जाने के बाद स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व के विचार किसी भी समाज में जड़ें जमा सकते हैं।

नॉट्रेडम यूनिवर्सिटी में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर पैट्रिक डेनीन ने अपनी पुस्तक 'व्हाई लिबरलिज्म फेल्ड' में उदारवादी अवधारणा के पटरी से उतरने के कारणों की पड़ताल की है। इस पुस्तक के अनुसार, 'उदार' नीतियों के प्रत्यक्ष लाभार्थियों द्वारा संचालित समाज में बाकी लोग पीछे छूटते गए। प्रोफेसर डेनीन उदारवाद एवं उसके साथ ही लेवियाथन राज्य के विकास के बीच बुनियादी विरोधाभास को रेखांकित करते हैं। चाहे आप शास्त्रीय बाजार उदारवादी हों जो आर्थिक मामलों में राज्य के कम हस्तक्षेप और कारोबारों के ग्राहकों के लिए प्रतिस्पर्द्धा करने के पक्षधर हैं या फिर आप एक सामाजिक उदारवादी हों जो राज्य से यह सुनिश्चित कराना चाहता है कि हरेकव्यक्ति अपनी असली क्षमता के हिसाब से ही विकास करता है, दोनों ही तरह के लोग अलग-अलग कारणों से आखिरकार राज्य की बड़ी भूमिका की ही नींव तैयार करते हैं। लेकिन समाज के बाजारवादी अर्थव्यवस्था एवं लेवियाथन राज्य से प्यार करने का इकलौता तरीका यही है कि दोनों मिलकर अंतहीन विकास पैदा करें या असीमित उपभोक्ता विकल्प मौजूद हों।

हम 2008 के वैश्विक वित्तीय संकट के समय देख चुके हैं कि वामपंथी एवं दक्षिणपंथी दोनों ही विचारधाराओं के अर्थशास्त्री राज्य के अधिक हस्तक्षेप की पुरजोर वकालत कर रहे थे। ऐसे में यह सवाल खड़ा होता है कि अगर राज्य अधिक और अधिक शक्तिशाली होता जा रहा है तो फिर उदारवाद खुद कैसे बचा रहेगा? आखिरकार एक उदार व्यवस्था में क्या राज्य समेत हरेक अंग से व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा की अपेक्षा नहीं की जाती है? निश्चित रूप से इसका जवाब निष्पक्ष नियम एवं कानून का शासन ही होगा। लेकिन कानून लागू करने के लिए राज्य को अधिक संसाधनों की भी जरूरत पड़ेगी। और किसी का भी लिखा हुआ कानून हो, वह दुनिया में कहीं भी निहित स्वार्थों के असर से बच नहीं

पाया है। ताकतवर समूहों की आवाज हमेशा ही कानून-निर्माण में ज्यादा सुनी जाती है। प्रोफेसर डेनीन का मानना है कि ऐसी स्थिति में उदारवादी लोग सर्वाधिकारवादी साधनों के जरिये शासन करते रहेंगे। हमने इसकी झलकियां उस समय देखीं जब सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म ने अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति को रातोंरात अपने प्लेटफॉर्म से हटा दिया।

निष्कर्ष एकदम सरल है। व्यक्ति एवं राज्य के बीच समुदाय की भूमिका कहीं अधिक सशक्त होनी चाहिए ताकि वह अधिकारों को सीमित कर निगरानी रख सके। कोई भी सच्चा मुक्त समाज अकेले निजी अधिकारों के दम पर नहीं बनाया जा सकता है।

रघुराम राजन ने भी अपनी पुस्तक 'द थर्ड पिलर' में इस मुद्दे को उठाने की कोशिशें की हैं। उनका कहना है कि उदारवादी पश्चिमी दुनिया में राज्य और बाजार तो ताकतवर हैं लेकिन समुदाय कमजोर हो चुके हैं। सामुदायिक बंधन एवं कार्य करने की क्षमता रूपी इस तीसरे खंभे के बगैर आप अपराध एवं हिंसा की चपेट में फंसे गरीब पड़ोस की मदद नहीं कर सकते हैं। भारत में समस्या कुछ दूसरी तरह की है। हमारा सामुदायिक ढांचा अब भी सशक्त है जबकि राज्य की क्षमता कमजोर है और बाजार अपने कामकाज की जगह पर भी अपूर्ण हैं। इसके बावजूद उदारवादी हमारे पक्ष में जा रही उस चीज को खत्म कर देना चाहते हैं जो कि समुदाय को लेकर हमारे भीतर मौजूद मजबूत अहसास है। परिवार से लेकर जाति और धार्मिक पहचान एवं भाषाई संबद्धता तक समुदाय के अहसास को बनाए हुए हैं।

इसका मतलब यह नहीं है कि हमें अस्तित्वहीन एवं 'महान अतीत' की तरफ लौट जाना चाहिए। यह असल में ताकत की मौजूदगी को पहचानने का आह्वान है। हम समुदायों को कमजोर कर एक सशक्त राज्य एवं सशक्त बाजार नहीं बना सकते हैं। हम राज्य को लेविआथन बनने से तभी रोक सकते हैं जब हम समुदायों को राज्य का कुछ काम करने के लिए सशक्त बना सकें। और समुदाय से मेरा आशय सिर्फ जाति, धर्म, लिंग, कबीला या भाषाई जुड़ाव के आधार पर बने समूहों से ही नहीं है। कोई भी समूह खुद को एक समुदाय में तब्दील कर सकता है और सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने समेत अपने साझा एवं सामान्य हितों की पूर्ति के लिए काम कर सकता है। यूरोप के कई देशों में स्वैच्छिक चर्च करों को कर्मचारियों के वेतन से कर लाभ देकर काटा जा सकता है। मुस्लिमों का जकात भी स्वेच्छा से कर देने का ऐसा ही एक विचार है।

एक छोटे एवं प्रभावी राज्य को अपना नियंत्रण खुद करने वाले और स्वैच्छिक कर संसाधनों वाले समुदायों के पूरक की भूमिका निभानी है। कम जनसंख्या वाले डेनमार्क एवं अन्य नॉर्डिक देशों में राज्य इस समुदाय की जगह ले सकता है क्योंकि वहां का समाज एकल-संस्कृति है।

हालांकि डेनमार्क जैसी व्यवस्था के लिए जरूरी है कि स्वायत्त स्व-नियमन के प्रभावी होने और सामाजिक सुरक्षा के लिए समुदाय का आकार छोटा हो। उदारवाद और सार्वभौमवाद हमें वहां तक नहीं ले जा रहे हैं क्योंकि उनका निर्धारित लक्ष्य ही विरासत में मिली सामुदायिक पहचान को ध्वस्त करने का है। स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व की यह नामुमकिन तिकड़ी छोटे एवं सरल समुदायों को छोड़कर कहीं भी नहीं हासिल की जा सकती है।

Date: 19-08-21

जनगणना में जाति

प्रेमकुमार मणि

जनगणना में जाति के सवाल पर देश की राजनीति में बवाल उठ खड़ा हुआ है। दलित-पिछड़ी जातियों से जुड़े हुए नेता इस प्रश्न पर एकमत हैं। बिहार में नीतीश और तेजस्वी राजनीतिक तौर पर धुर विरोधी होते हुए भी इस प्रश्न पर एकजुट हैं। सुप्रसिद्ध समाजविज्ञानी सतीश देशपांडे ने अपने एक लेख में प्रश्न उठाया है कि जाति जनगणना से कौन डर है? उनका ही जवाब है, मुट्ठी भर तथाकथित ऊंची जातियों के लोग जो अपनी वास्तविक जनसंख्या से परिचित हैं। दरअसल, वे इस बात से भी परिचित हैं कि इन आंकड़ों के सार्वजनिक होने पर एक बार फिर 1990 जैसी सामाजिक उथल-पुथल हो सकती है। लेकिन संसद के इस पावस सत्र में ही गृह राज्यमंत्री नित्यानंद राय ने स्पष्ट कर दिया है कि जनगणना में जाति की जानकारी इकट्ठा करने का सरकार का इरादा नहीं है। गौरतलब यह है कि मनमोहन सिंह की कांग्रेसी सरकार का निश्चय इसे करने का था।

हमारे देश में ब्रिटिश हुकमरानों ने सेन्सस अथवा जनगणना का व्यवस्थित आरंभ किया था। पहली दफा जनगणना 1881 में की गई। उसके बाद हर दस साल पर जनगणना होती रही। इसमें जाति गणना भी होती थी। इसी गणना से अंबेडकर जैसे लोगों को अछूतों की स्थितियों के बारे में विस्तृत जानकारी मिली थी। जनगणना में बहुत सारी जानकारियां इकट्ठी की जाती हैं। किस जाति में कितने अंधे, रोगी, अनपढ़, पढ़े-लिखे हैं से लेकर बहुत कुछ। इन्हीं से प्राप्त आंकड़ों पर योजनाएं बनती हैं। जाति संबंधी जितने भी निर्णय लिए गए हैं, उन सबका आधार 1931 का सेन्सस है। 1941 की जनगणना दूसरे विश्व युद्ध के कारण सरसरी तौर पर कर ली गई थी। व्यापक सर्वे नहीं हुआ था, इसलिए जाति-आधारित जनगणना संभव नहीं हुई थी।

1947 में देश के आजाद होने के बाद 1951 में व्यवस्थित सर्वेक्षण हुआ लेकिन नई सरकारी नीतियों ने जाति-आधारित जनगणना की जरूरत नहीं समझी। संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए जनसंख्या के आधार पर सरकारी नौकरियों और कुछ दूसरे क्षेत्र (जैसे धारासभाओं) में आरक्षण की व्यवस्था की गई थी, इसलिए उनकी संख्या गिनी गई। लेकिन अन्य जाति के बारे में कोई जानकारी इकट्ठी नहीं की गई। लेकिन अब जब कि अन्य पिछड़े वर्गों और सामान्य वर्गों के लिए भी सरकारी नौकरियों और शिक्षण संस्थानों में नामांकन में आरक्षण के प्रावधान कर दिए गए हैं, तब आवश्यक है कि जाति का कॉलम भी जनगणना में जोड़ दिया जाए। मेरे जानते अब तक सेन्सस में 29 सवाल पूछे जाते हैं, बस एक सवाल और बढ़ने वाला है। इसमें हर्ज क्या है? इससे इस बात की भी जानकारी मिलती कि अन्य पिछड़े वर्गों की जो सूची है, उसमें जिन जातियों को रखा गया है, उनकी वास्तविक संख्या और लाभार्थियों में उनकी जाति की क्या हिस्सेदारी रही है। समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए भी यह आवश्यक है।

लेकिन देख रहा हूँ कि कुछ खास लोग जाति गणना पर अधिक जोर दे रहे हैं, और कुछ खास लोग इसे रोकने में वैसे ही रुचि ले रहे हैं। इस पर जोर देने वाले लोगों में पिछड़े वर्गों की उन जातियों के लोग अधिक शामिल हैं, जिनका ध्येय किसी तरह का सामाजिक परिवर्तन या न्याय नहीं है, बल्कि यह जानना है कि उनकी जाति की संख्या कितनी अधिक है ताकि यह जानकर वह अपने साम्राज्य और दबदबे की घोषणा कर सकें। लेकिन मुट्ठी भर ऐसे सिरफिरों और जातिवादियों के लिए हम एक जरूरी काम स्थगित भी नहीं कर सकते। वास्तविक मिथ्याचार इसे रोकने वाले कर रहे हैं। शायद आरएसएस जातिगणना के पक्ष में नहीं है। कांग्रेस भी लंबे समय तक नहीं थी। हर कोई जान रहा है कि संघ की मनसा क्या है। संघ का एकल हिंदुत्व का विचार इससे कमजोर होता है। कट्टर इस्लामी चेतना के लोग भी जाति गणना नहीं चाहते। उन्हें लगता है इस्लाम और मुसलमान एक है। यहां जुलाहे और शेख सैयद का भेद नहीं है।

हकीकत यह है कि मुसलमानों के बीच जातिभेद की गहराई अधिक है। वहां हिंदुओं की तरह बिचौलिया जातियों का अभाव है। इस कारण वहां सामाजिक नफरत अधिक है। असराफ और अरजाल के जातिभेद के जाने कितने किस्से हैं, इस सच्चाई को शेख-सैय्यद और मुल्ला-मौलवी नकारना चाहता है। संघ को भी लगता है कि हिंदू एक हैं, लेकिन हकीकत है कि हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई सब के बीच भयावह जातिवाद है। मुसलमानों का दो तिहाई हिस्सा पिछड़ा है, और वह मंडल कमीशन वाली पिछड़े वर्ग की सूची में है। यही नहीं सामान्य वर्ग का भी एक हिस्सा, जो हिंदुओं का द्विज तबका है, पिछड़े वर्ग की सूची में है। कई ब्राह्मण जातियां ओबीसी में शामिल हैं जबकि कई निम्नवर्णीय जातियां सामान्य वर्ग में हैं। गुजरात में कुर्मी पटेल ओबीसी से बाहर सामान्य वर्ग में हैं जबकि वहां राजपूत ओबीसी में हैं। बिहार, यूपी में कई ब्राह्मण समुदाय ओबीसी में हैं। जाट हमेशा निम्नवर्णीय बतलाए गए, लेकिन वे मंडल आयोग की सिफारिशों में सामान्य वर्ग में रहे।

मोदी सरकार ने सामान्य वर्ग के लिए भी दस फीसद आरक्षण की व्यवस्था की है। इसका कोई बड़ा विरोध नहीं हुआ अर्थात् इसे पिछड़े वर्गों के नेताओं का भी मौन समर्थन मिला। लेकिन विश्लेषण बताता है कि ओबीसी सामाजिक गुप को सैद्धांतिक स्तर पर ही इससे बहुत नुकसान हो रहा है। अजा/अजनजा को आबादी के अनुसार आरक्षण मिल रहा है। सामान्य वर्गों की संख्या यदि पंद्रह फीसद है (जैसे हमारे बिहार में 13 फीसद है) तो उन्हें अपनी आबादी का दो तिहाई आरक्षण मिल रहा है। पिछड़े वर्गों की कथित आबादी 54 फीसद है। इसमें 46 फीसद हिंदू ओबीसी और 8 फीसद मुस्लिम ओबीसी हैं। मंडल कमीशन की सिफारिशों के अनुसार इन्हें उनकी आबादी का आधा यानी 27 फीसद आरक्षण मिल रहा है। अनुसूचित जातियों की तरह यदि आबादी के अनुसार उन्हें आरक्षण मिलता, तब उन्हें 54 फीसद आरक्षण मिलना चाहिए। यदि सामान्य वर्गों की तरह उन्हें उनकी संख्या का दो तिहाई भी मिले तो यह प्रतिशत में 36 प्रतिशत होना चाहिए। सबसे कम आरक्षण उन्हें किस आधार पर मिल रहा है? इतने बड़े पाखंड पर किसी की जुबान नहीं खुल रही।

Date:19-08-21

बेबस रहेंगी सांसें

पंकज चतुर्वेदी



यह सच्चाई है कि विकासमान भारत के सामने जो बड़ी चुनौतियां हैं, उनमें वायु प्रदूषण सर्वाधिक भीषण और चिंताजनक है। मेडिकल जर्नल 'लांसेट' की 2019 की एक रिपोर्ट में बताया गया था कि प्रदूषण व जहरीली हवा के चलते हमारे देश में हर साल 16.7 लाख लोग दम तोड़ देते हैं, और देश को 36.8 अरब डॉलर का नुकसान होता है। पुरानी गाड़ियों को कबाड़ करने की नई नीति का असल उद्देश्य वायु प्रदूषण से मुक्ति है।

2015 में एनजीटी के आदेश के चलते दिल्ली एनसीआर में डीजल वाहन 10 साल और पेट्रोल वाहन की उम्र 15

साल पहले से ही तय है। कमर्शियल वाहन सीएनजी से चल रहे हैं, इसके बावजूद दिल्ली को दुनिया के सर्वाधिक दमघोटू शहरों में गिना जाता है। दिल्ली, मुंबई से ले कर पटना या भोपाल या फिर बंगलूरु के उदाहरण सामने हैं कि महानगरों का अनियोजित विस्तार, गांव से शिक्षा, स्वास्थ्य के अलावा रोजगार के लिए पलायन और कार्यस्थल से आवास की दूरी ने निजी वाहनों का प्रचलन बढाया और इसी से सड़कों पर क्षमता से अधिक वाहन आते हैं। जाम होता है और प्रदूषणकारी धुआं उपजता है। जेनरेटर, ट्रैक्टर, ट्यूबवेल के पंप आदि भी अधिकांश डीजल पर ही हैं, जो वातावरण को जहरीला बनाने में योगदान देते हैं। वायु प्रदूषण के अन्य कारक निर्माण कार्य की धूल, कल-कारखाने आदि भी हैं। नये कानून के मुताबिक कमर्शियल गाड़ी जहां 15 साल बाद कबाड़ घोषित हो सकेगी, वहीं निजी गाड़ी के लिए यह समय 20 साल है। सरकार का दावा है कि स्क्रेप पॉलिसी से वाहन मालिकों का न केवल आर्थिक नुकसान कम होगा, बल्कि उनके जीवन की सुरक्षा हो सकेगी।

सरकार के अपने तर्क हैं कि पुरानी गाड़ियां बंद होने से ऑटोमोबाइल उद्योग को जीवन मिलेगा, सरकार को भी सालाना करीब 40,000 करोड़ का जीएसटी की कमाई होगी। यह भी कहा गया कि पुराने वाहनों में सीट बेल्ट और एयरबैग आदि नहीं होते जिससे उनमें सफर जानलेवा होता है। नये वाहनों में कहीं ज्यादा सुरक्षा मानकों का पालन होता है। स्क्रेप पॉलिसी के दायरे में 20 साल से ज्यादा पुराने लगभग 51 लाख हल्के मोटर वाहन (एलएमवी) और 15 साल से अधिक पुराने 34 लाख अन्य एलएमवी आएंगे। 15 लाख मीडियम और हैवी मोटर वाहन भी आएंगे जो 15 साल से ज्यादा पुराने हैं और इनके पास फिटनेस सर्टिफिकेट नहीं है। जहां तक प्रदूषण का सवाल है तो माना जाता है कि नये भारत-6 गुणवत्ता वाले वाहन से उत्सर्जन कम होता है जो पुराने वाले 25 वाहनों के उत्सर्जन के बराबर है। हालांकि नये ईंधन, जिसमें दस फीसदी एथेनाल मिलाया जा रहा है, से वाहनों का कार्बन उत्सर्जन बढ़ रहा है। कैटेलिक कनवर्टर के इस्तेमाल से कार्बन की बड़ी मात्रा भी समय से पहले इंजन पर असर डाल रही है। मसला कैटेलिक कनवर्टर का हो या सीएनजी का, यह स्पष्ट हो गया है कि इनसे पीएम 2.5 से भी बारीक कण और नाइट्रोजन आक्साइड गैसों अधिक उत्सर्जित हो रही हैं, जो मानव जीवन और पर्यावरण के लिए नुकसानदायक हैं।

नये वाहन कम ईंधन पीते हैं या खरीदे गए हल्के वाहनों में बिजली या सीएनजी के वाहन की संख्या अधिक हुई तो कह सकते हैं कि 2025 तक 22.97 मिलियन टन तेल की खपत कम हो सकती है। हालांकि नये वाहन एयरकंडीशन वाले हैं और उनमें ना केवल ईंधन अधिक फुंकता है, बल्कि एसी की गैस से ओजोन परत को भी क्षति होती है। वैसे भी सबसे ज्यादा वायु प्रदूषण दो स्ट्रोक इंजन वाले दोपहिया वाहनों से होता है। इन पर नियंत्रण कितना कठिन है इसकी बानगी

दिल्ली में चल रहे ऐसे दस हजार से अधिक पुराने स्कूटर हैं, जिन्हें तीन पहिया लगा कर भारवाहक का रूप दे दिया गया है। ये वाहन 25 साल से अधिक पुराने हैं। ऐसे 'जुगाड़' वाले वाहन कई सौ कार के बराबर हवा को कालिख से भर देते हैं। सरकार वाहनों से होने वाले प्रदूषण के प्रति गंभीर है तो वाहनों को कबाड़ा बनाने की नीति के बनिस्बत सड़क पर कम वाहन की नीति बनाए। निजी इस्तेमाल के वाहनों पर कर्ज की नीति कड़ी हो, सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था मजबूत और किफायती दाम की हो और सड़कों पर जाम कम करने के उपाय खोजे जाएं।

Live
हिन्दुस्तान
 .com

Date: 19-08-21

सेना में महिलाएं

संपादकीय



महिलाओं के लिए एक और मार्ग प्रशस्त होने जा रहा है। देश की सर्वोच्च अदालत ने साफ कर दिया कि राष्ट्रीय रक्षा अकादमी (एनडीए) या भारतीय नौसेना अकादमी में प्रवेश से महिलाओं को वंचित नहीं किया जा सकता। यह फैसला कुश कालरा द्वारा दायर एक याचिका पर आया है, जो प्रतिष्ठित पुणे स्थित राष्ट्रीय रक्षा अकादमी (एनडीए) और केरल स्थित भारतीय नौसेना अकादमी (आईएनए) में प्रवेश पाने के लिए महिलाओं के वास्ते समान अवसर की मांग कर रही हैं। अभी ये दोनों अकादमियां महिला कैडेट

की भर्ती नहीं करती हैं। न्यायमूर्ति संजय किशन कौल और हृषिकेश राँय की पीठ के समक्ष बुधवार को सुनवाई के लिए मामला आने पर केंद्र सरकार ने कहा कि महिलाओं के रोजगार के लिए जो रास्ते खोले गए हैं, उनमें उन्हें सशस्त्र बलों में समान अवसर दिया जा रहा है। केंद्र सरकार ने यह बताने की कोशिश की कि यह किसी भी मौलिक अधिकार का उल्लंघन नहीं है। हालांकि, यह बात साबित हो गई कि सेनाएं पुरुष और महिलाओं में भेद करती हैं। अब महिलाएं सैन्य अकादमियों की परीक्षा में बैठ सकेंगी।

इस मामले में सुप्रीम कोर्ट ने इस साल मार्च में याचिका पर नोटिस जारी किया था। कुश कालरा ने उचित ही कहा था, पात्र और इच्छुक महिला उम्मीदवारों को उनके लिंग के आधार पर (एनडीए और नौसेना अकादमी की) परीक्षाओं में बैठने की अनुमति नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि भेदभाव का यह कार्य समानता के सांविधानिक मूल्यों का अपमान है। कोई शक नहीं है कि महिलाओं ने अपने अधिकारों के लिए लंबे समय से संघर्ष किया है। हमारी सेनाओं में भी महिलाओं को

अब पहले की तुलना में ज्यादा जगह मिल रही है। पहले उन्हें उच्च अधिकारी बनने का अधिकार हासिल नहीं था, लेकिन अगर हम नौसेना की बात करें, तो हलफनामे में कहा गया है कि नौसेना में चार शाखाएं हैं- कार्यकारी, इलेक्ट्रिकल, इंजीनियरिंग, शिक्षा और आज की तारीख में सभी शाखाओं में महिलाओं के प्रवेश की अनुमति देने के लिए प्रतिबंध हटा दिया गया है। हालांकि, जमीनी हकीकत यह है कि सेनाओं में महिलाओं की भर्ती के लिए कोई अलग से इंतजाम अभी तक नहीं किए गए हैं। पुरानी सोच हावी है। सेना को लोग पुरुषों का काम मानते हैं, जबकि बदलते दौर में सेना में महिलाओं की भूमिका बढ़ती जा रही है। खासकर उन महिलाओं को सेना में आने से नहीं रोका जा सकता, जिनकी इच्छा है, जो सेना में आकर देश की सेवा करना चाहती हैं। सेना में महिलाओं की भर्ती पर किसी को आपत्ति नहीं रही है, लेकिन महत्वपूर्ण पदों पर महिलाओं को आगे आने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। यह मामला उदाहरण है कि सुप्रीम कोर्ट के हस्तक्षेप के बाद ही सेना में महिलाओं के सम्मान की बहाली हो पा रही है।

उल्लेखनीय है कि कुश कालरा की याचिका के अलावा, अदालत इस शैक्षणिक वर्ष से देहरादून में राष्ट्रीय भारतीय सैन्य कॉलेज में लड़कियों के प्रवेश की मांग करने वाली कैलास उधवराव मोरे द्वारा दायर याचिका पर भी विचार कर रही है। यह कॉलेज रक्षा मंत्रालय द्वारा लड़कों के लिए चलाया जाता है। केंद्र सरकार को अभी इस याचिका पर जवाब देना है। बेशक, सेनाओं में महिलाओं को समान स्तर पर आने से रोकना अब मुमकिन या न्यायोचित नहीं है।

Date:19-08-21

सीबीआई में बड़े सुधार की जरूरत है, पर संभलकर

अरुण भगत, (पूर्व प्रमुख, आईबी)

मद्रास हाईकोर्ट ने केंद्र सरकार और सीबीआई को बहुत स्पष्ट और समयबद्ध निर्देश दिए हैं। डिपार्टमेंट ऑफ पर्सनल और ट्रेनिंग को कहा गया है कि जितने लंबित प्रस्ताव हैं, ढांचा, विकास, भूमि खरीद, रिहायशी भवन निर्माण, तकनीकी योग्यता में सुधार इत्यादि से जुड़े, छह सप्ताह के अंदर उन पर काम करना है। दूसरी बात, केंद्र सरकार को कहा गया है कि वह सीबीआई के हर जोन में एक साल के भीतर एक-एक फॉरेंसिक विज्ञान प्रयोगशाला निर्मित करे। साथ ही, जो प्रयोगशालाएं अभी हैं, उन्हें और विकसित करे।

सबसे महत्वपूर्ण बात कि सरकार से कहा गया है, सीबीआई को स्वायत्त बनाइए, जैसे चुनाव आयोग है। सीबीआई को सीधे कहा गया है कि उसमें मानव संसाधन की जो कमी है, उसका एक विस्तार से प्रस्ताव बनाए और छह सप्ताह के अंदर केंद्र सरकार को सौंपे। साथ ही, यह भी कहा गया है कि इस प्रस्ताव पर केंद्र सरकार तीन महीने के अंदर फैसला करे और मंजूरी दे।

कोर्ट द्वारा जो निर्देश दिए गए हैं, इनकी मांग कई वर्षों से हो रही है। हालांकि, मुश्किल जो सीबीआई में आती है, वह यह है कि इसमें सीधी नियुक्तियां बहुत कम हैं, प्रतिनियुक्ति पर अधिकारी लेने पड़ते हैं। वरिष्ठ अधिकारी तो भारतीय पुलिस सेवा से आ ही जाते हैं, पर मध्य क्रम में बहुत योग्य लोग नहीं आ पाते। राज्यों में जिन लोगों को जांच का तजुर्बा है, वे सीबीआई में आना पसंद नहीं करते हैं। इससे सीबीआई को अपने लिए मैन पावर जुटाने में बहुत मुश्किल

होती है। नतीजा यह होता है कि अगर सीबीआई में आठ हजार पद होंगे, तो उसमें हजार पद तो खाली ही होंगे। इससे यह हुआ है कि अर्द्धसैनिक बलों से भी सीबीआई ने इंस्पेक्टर, सब-इंस्पेक्टर लेने शुरू कर दिए हैं। उनका जो प्रशिक्षण और अनुभव है, वह ऐसा नहीं होता कि वे बेहतर जांच कर सकें। हालांकि, सीबीआई में सब-इंस्पेक्टर के पास उतने ही अधिकार होते हैं, जितने एक एसएचओ के पास होते हैं।

में भी सीबीआई में था, तो मैंने देखा कि बहुत मुश्किल से अच्छे अफसर मिलते थे। सीबीआई के पास जांच के लिए आने वाले मामले बहुत जटिल होते हैं। मुंबई बम विस्फोट के मामले, हर्षद मेहता प्रकरण की जांच में हमने देखा है। फिर भी सीबीआई में एक संस्कृति है, अफसरों में प्रतिबद्धता बहुत है। वैसे, पिछले कुछ वर्षों में देखा गया है कि खासकर ऊपरी दर्जे पर अफसरों में कमी आ गई है। आला अफसरों से जुड़े विवाद भी खूब देखे गए हैं। ऐसा भी मौका आया, जब सीबीआई को अपने ही निदेशक के खिलाफ मामला दर्ज करना पड़ा। इससे अधिकारियों के मनोबल पर असर पड़ा है। सरकार की कोशिश यह रही है कि वह अच्छे अधिकारी लेकर आए और सीबीआई के मनोबल को लौटाए।

अब एक और सवाल महत्वपूर्ण है कि ये जो निर्देश दिए गए हैं, ये भारत सरकार मानेगी या इसके खिलाफ अपील करेगी? पहले सुप्रीम कोर्ट की पांच सदस्यीय पीठ ने यह तय किया था या अपने निर्णय में लिखा था कि जो शक्ति हाईकोर्ट या सुप्रीम कोर्ट के पास है, सीबीआई को केस या जांच सौंपने की, उसमें राज्यों की मंजूरी की जरूरत नहीं है। दिल्ली पुलिस ऐक्ट के तहत सभी राज्यों को अख्तियार है कि वे जांच करने की मंजूरी दे या नहीं दें, लेकिन सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि ऐसे मामले, जहां बहुत ही जरूरी है, कोर्ट को यह शक्ति इस्तेमाल करनी चाहिए। चूंकि यह असाधारण शक्ति है, इसलिए बहुत सोच-समझकर व सतर्कता के साथ इसे लागू करना चाहिए।

यदि सुप्रीम कोर्ट ने कहा है कि ऐसे मामले, जिनमें बहुत जरूरी है और कोई चारा नहीं है, तब हाईकोर्ट या सुप्रीम कोर्ट हस्तक्षेप करे और सीबीआई को जांच के निर्देश दे। लेकिन अभी जो निर्देश खंडपीठ ने दिए हैं कि आप तीन महीने के भीतर यह करें, दो महीने में यह करें। यानी अदालत भी यही मान रही होगी, हर रिपोर्ट उस तक जाएगी, क्योंकि शिकायत हुई है। अदालत की बात न मानने पर अवमानना भी हो सकती है। मैं समझता हूं कि इस मामले में अब हड़बड़ी होगी, बहस होगी। जो हालात अब हैं, जिस तरह से केंद्र और अदालत के बीच विवाद सुनने में आते हैं। तो फिर एक आशंका यह भी है कि न्यायपालिका और कार्यपालिका के बीच तनाव बढ़ भी सकता है। अतः हर संबंधित पक्ष को काफी संभलकर आगे बढ़ना चाहिए।